9. अति से दूर और निर्मान रहें

1. *To hold on to something and thereby make it overflow :*
   this is not worthwhile.
   To make use of something and still keep it sharp:
   this cannot be sustained for long.

2. *A palace full of gold and diamonds nobody can protect.*
   To be rich and titled and arrogant into the bargain :
   this in itself attracts misfortune.

3. *When the work is done it is time to withdraw:*
   this is the DAO of Heaven.

अनुवाद

1. *पात्र को तब तक भरना,*
   जब तक वह छलक न जाये,
   यह उचित नहीं।
   किसी वस्तु का प्रयोग हो,
   तो भी, उसकी धार बनी रहे,
   यह लंबे समय तक संभव नहीं।

2. *स्वर्ण और हीरों से भरा महल,*
   कोई उसकी सुरक्षा नहीं कर सकता।
   समृद्ध व सम्मानित होना,
   फलस्वरूप अहंकारी हो जाना,
   यही है, दुर्भाग्य को आमंत्रित करना।

3. *कार्य सफल हो जाये,*
   यही पीछे हटने का सही समय है,
   यही है स्वर्ग का ताओ।

भावार्थ—1. पात्र में इतना भरना कि वह बहने लगे, यह उचित नहीं है। किसी वस्तु का लंबे समय तक बराबर प्रयोग होते रहने पर उसकी धार बनी नहीं रह सकती।

2. सोने, हीरे एवं धन से भरे भवन की बहुत दिनों तक कोई सुरक्षा नहीं कर सकता। धनी होना, सम्मान-प्रतिष्ठा से संपन्न होना और इसके परिणाम में अहंकारी हो जाना अपने हाथ से अपने लिए दुर्भाग्य बनाना है।

3. कार्य सफल हो जाने पर पीछे हट जाने का सही समय है। यही है अनंत सुखदायी विश्वव्यापी नियम का आदर।

भाष्य—पात्र को तब तक भरना जब तक वह छलक न जाये यह उचित नहीं है। उदाहरणार्थ, एक कटोरा में हमने दूध डालना शुरू किया और उसमें से दूध उछलकर बहने लगा और हम दूध उसमें डालते ही जाते हैं, तो इसका मतलब क्या हुआ? अति करना। खाने बैठे, खाते-खाते भीतर घंटी बज गयी कि अब काम भर का भोजन पेट में चला गया, अब इसके आगे मुख में नहीं डालना चाहिए; किंतु जीभ-स्वाद के प्रलोभन में पड़कर व्यंजन मुख में डालते गये, तो परिणाम होना है पेट का खराब होना। यदि कोई बराबर अधिक खाता रहे, तो उसके शरीर में नाना स्थायी रोग होना पक्का है।

लोग निर्वाह के लिए धन कमाते हैं। कुछ लोग धन कमाने में सफल हो जाते हैं और उन्हें धन कमाने और उसे बढ़ाने में चस्का लग जाता है। अतएव वे अपना काम ऐसा बढ़ा लेते हैं कि उन्हें खाने, सोने, आराम करने की फुर्सत नहीं मिलती, फिर अध्ययन, ध्यान, सत्संग करने का अवसर कहां? उनका जीवन मशीन बन जाता है और वे तन-मन दोनों से पीड़ित होकर दुख में जीवन का अंत करते हैं।

सफल राजनेता तो चाक की तरह निरंतर घूमते ही हैं; सफल डॉक्टर तथा सफल वकील को भी शारीरिक विश्राम के लिए अवकाश नहीं है, फिर आत्मिक शांति के लिए सत्संग, सेवा, स्वाध्याय और ध्यान के लिए कहां अवकाश है? कर्मकांड कराने वाले तथा कथा वांचने वाले प्रसिद्ध पंडित और धर्मप्रचार करने वाले प्रसिद्ध महात्मा अपने आत्मकल्याण के लिए न संध्योपासना कर पाते हैं और न स्वाध्याय और ध्यान। क्योंकि उन्हें अवकाश नहीं। अधिक भाषा, विद्या और शास्त्र पढ़ते-पढ़ते आध्यात्मिक शांति तो छूट ही जाती है, प्रतिभा भी मर जाती है।

ऐसी उन्नति करना जिसमें जीवन दबकर सड़ जाये और दुख में अंत हो, तो यह पात्र को भरते जाना है जबकि वह केवल भरा ही नहीं है, बाहर बह रहा है। संत लाओत्ज़े कहते हैं कि भरने के पहले ही रुक जाओ। सब कुछ आत्मसुख के लिए किया जाता है, और जब वही उड़ गया तो उन्नति का क्या अर्थ है? अतएव भरने के पहले रुको।

किसी वस्तु का प्रयोग हो, तो भी उसकी धार बनी रहे, यह लंबे समय तक संभव नहीं। छूरी, चाकू, उस्तुरा को बराबर काम में लेते रहें, तो उनकी

धार भोथरी होगी ही। वे लंबे समय तक धारदार नहीं बने रह सकते। बहुत प्यार लेने-देने का चक्कर थोड़े दिन चलता है। किसी से किसी प्रकार का लाभ लेने की बात अधिक दिनों तक नहीं चल सकती। इसलिए सब तरफ अति करने से बचना चाहिए। इच्छाओं और अहंकार को जीतने से ही जीवन की सारी अतियों से बचा जा सकता है। सुखी जीवन जीने की कला यही है कि मध्यवर्ती व्यवहार लेकर चलें।

स्वर्ण और हीरों से भरा महल, कोई उसकी सुरक्षा नहीं कर सकता। धन केवल संग्रह की वस्तु नहीं है, अपितु संग्रह खर्च के लिए है। धन का अच्छा उपयोग बराबर होते रहना धन की सार्थकता है। उपयोग-रहित संग्रह पाप है और वह दुख देगा।

समृद्ध और सम्मानित होना, फलस्वरूप अहंकारी हो जाना, यही है दुर्भाग्य को आमंत्रित करना। समृद्ध कहते हैं उन्नतिशील को, भाग्यशाली, धनी, संपन्न को और ऐसी स्थिति में वह लोगों से सम्मान पाता ही है। कुछ गुण, पद, अधिकार एवं योग्यता से सम्मान मिलता है। समृद्धि और सम्मान आयें तो कोई बात नहीं, किंतु उसके परिणाम में अहंकारी हो जाना अपने पतन को आमंत्रित करना है।

वैसे हर मनुष्य के सिर पर बढ़ा-चढ़ा अहंकार है। बस, थोड़ी कम-अधिक मात्रा की बात है। धन, विद्या, पद, अधिकार आदि पा जाने पर जहां विवेक नहीं है, अभिमान बढ़ जाता है। सद्‌गुरु कबीर ने कहा है, ''तरने को है दीनता, डूबन को अभिमान।'' अर्थात संसार-सागर से पार जाने का रास्ता विनम्रता है और उसमें डूब मरने का रास्ता अहंकार है। गोस्वामी तुलसीदास जी भी वैराग्य संदीपनी में कहते हैं, ''अहंकार की अगिन में दहत सकल संसार। तेहि से बांचे संत जन, केवल शांति अधार।'' श्री पूरण साहेब निर्णयसार में कहते हैं, ''गुरुवाई और मान-बड़ाई। ऋद्धि-सिद्धि सब जात नशाई॥ यामें सकल जगत अरुझाना। काल-कला को मर्म न जाना।'' अतएव अहंकार से सदैव बचना चाहिए।

इस अध्याय का अंतिम सूत्र है, **कार्य सफल हो जाये, यही पीछे हटने का सही समय है। यही है स्वर्ग का ताओ।** किसी कार्य के सफल हो जाने पर उसके कर्ता का जो आत्म-प्रदर्शन का विचार होता है, यह उसके मन का बंधन है। मनुष्य का विवेक यह है कि उसके द्वारा कार्य संपन्न हो जाने पर वह पीछे हट जाये। मैंने यह सब किया, यह बताने की तृष्णा बालपन है। आत्मसंतुष्ट होना स्वर्ग की प्राप्ति है, और इसका ताओ, नियम, विधान है अहंकार-शून्य हो जाना।

चीन में ताओ के संप्रदाय में ऐसी शाखाएं चल पड़ी हैं, जिनकी अनेक बातें विचित्र हैं। कोई तो यहां तक मानता है कि साधक का श्वास जब फेफड़े से न

चलकर नाभि से चलने लगता है, तब मानो वह ज्ञान में सिद्ध हो गया और कृतार्थ हो गया। ऐसे लोग श्वास-साधना पर जोर देते हैं और वे मानते हैं कि श्वास पर संयम कर लेने पर मनुष्य बहुत दिन जी सकता है। ऐसी बातों को तूल देने वालों में आज-कल के तार्किक माने जाने वाले विद्वान भी शामिल हैं। परंतु यह सब भ्रम है। स्वर्ग देने वाला ताओ है ऋत, नियम, जो विश्वव्यापी है। इस संदर्भ में है निर्मान और निष्काम हो जाना। इसका फल होता है अविचल, निर्भय शांति। यही है स्वर्ग। स्व में गमन ही स्वर्ग है, अपने में लौट आना, आत्मतृप्त हो जाना स्वर्ग है।

जब तक जीवन है, सबको अपने और दूसरे के हित के लिए कुछ करना चाहिए। जीवन्मुक्त संत भी कुछ करते हैं। अतएव अनासक्त होकर अपने और दूसरे के लिए कुछ करना उचित है। जो मनुष्य पूर्ण अनासक्त होता है, वह कोई कार्य करके यह नहीं बताना चाहता है कि मैंने किया है। अहंकार से रहित रहना विश्वसत्ता का संदेश है। विश्व-सत्ता बताती है कि यहां किसी का कुछ नहीं है। संसार रंगमंच है। अपना पार्ट अदा करो और रंगमंच से उतर जाओ। काम करो और उससे हटकर खड़े हो जाओ। सबसे निस्पृह, असंग, अहंकारशून्य, इच्छाहीन, आत्मलीन। यही स्वर्ग-सुख है। यही ताओ का पालन है।

10. निर्मल, विनम्र और निष्काम बनकर समाज की सेवा करें

1. *Can you educate your soul so that it encompasses the One*
   without dispersing itself?
   Can you make your strength unitary
   and achieve that softness
   that makes you like a little child?
   Can you cleanse your secret seeing
   so that it becomes free of stain?

2. *Can you love men and rule the state*
   so that you remain without knowledge?
   Can you, when the gates of Heaven
   open and close, be like the female bird?
   Can you penetrate everything with your inner clarity and purity
   without having need for action?

3. *Generating and nourishing,*
   generating and not possessing,
   being effective and not retaining,
   increasing and not dominating: this is the secret Life.

अनुवाद

1. *क्या आप स्वयं को इस ढंग से प्रशिक्षित कर सकते हैं,*
   कि आप ताओ को अपने में समाहित कर लें,
   बिना अपने को खंडित किये?
   क्या आप अपनी शक्ति को एकात्म कर सकते हैं,
   और वह कोमलता प्राप्त कर सकते हैं,
   जो आपको एक छोटे बच्चे की तरह बना दे ?
   क्या आप अपनी मानसिक दृष्टि को,
   मांजकर दागरहित बना सकते हैं?

2. क्या आप मनुष्यों को प्रेम,
और शासन में सहयोग दे सकते हैं,
इतने पर भी आपको कोई जान न पाये?
क्या आप, स्वर्ग के द्वार खुलने और बंद होने के समय,
मादा पक्षी की तरह हो सकते हैं?
क्या आप बिना कर्मों की आवश्यकता महसूस किये,
अपनी आंतरिक शुचिता एवं पवित्रता से,
सब में प्रवेश पा सकते हैं?

3. पैदा करना और पोषण करना,
उत्पन्न करना, न कि अधिकार गांठना,
कार्य करना, न कि कब्जा करना,
बढ़ना, न कि आधिपत्य जमाना,
यही है रहस्यपूर्ण जीवन।

भावार्थ—1. क्या आप अपने को इस अभ्यास में ढाल सकते हैं कि अपने को तोड़े बिना आप ताओ को अपने में लीन कर लें?

क्या अपनी शक्ति को एकबद्ध कर ऐसी कोमलता प्राप्त कर सकते हैं कि आप छोटे बच्चों जैसे कोमल हो जायें? क्या आप अपने मानसिक विचार को परिमार्जित कर उसे मलिनता-रहित बना सकते हैं?

2. क्या आप मनुष्यों को प्रेम दे सकते हैं और शासन में सहायता कर सकते हैं; किंतु इतना करने के बाद आप अपने को ऐसा प्रदर्शन-रहित कर सकते हैं कि आपको कोई जान न पाये?

क्या आप स्वर्ग के द्वार खुलने और बंद होने के समय मादा-पक्षी के समान कोमल, सरल और समर्पित हो सकते हैं?

क्या आप बिना कुछ कर्म करने की आवश्यकता का अनुभव किये अपनी आंतरिक सरलता और पवित्रता से सब में घुलमिल सकते हैं?

3. पैदा करना और पालन करना, उत्पन्न करना, उन पर अधिकार न जमाना, कार्य करना, परंतु कब्जा न करना, विकास करना, परंतु उस पर अपना प्रभुत्व न जमाना, यही रहस्यपूर्ण जीवन है।

भाष्य—क्या आप स्वयं को इस ढंग से प्रशिक्षित कर सकते हैं कि आप ताओ को अपने में समाहित कर लें, बिना अपने को खंडित किये। ताओ क्या है, उसे अपने में समाहित करना क्या है और अपने को खंडित न होने देना क्या है? ताओ है विश्वव्यापी नियम, धर्म जो वस्तु का स्वभाव है, जिससे निर्भय शाश्वत शांति मिले वह बोध। इसे अपने आचरण में उतार लेना अपने में

समाहित करना है। अपने को तुच्छ न समझना अपने को खंडित न करना है।

ताओ विश्वव्यापी नियम, यूनिवर्सल लॉ है। उसके असंख्य रूप हैं। संसार में जो कुछ हो रहा है, उसी से हो रहा है। परंतु यहां आध्यात्मिक जीवन की उन्नति और अन्य मनुष्यों तथा प्राणियों की सेवा की बात है। पहले अपना जीवन निर्मल होता है, तब दूसरे की सही सेवा हो सकती है। अपना जीवन तभी पूर्ण निर्मल होता है जब सारी कामनाओं और अहंकार का त्याग होता है। जब ऐसी पूर्णकाम अवस्था आती है कि जीवन में कोई उद्देश्य ही नहीं रह जाता है, कृतकृत्य, यह जीवन की पूर्णता है। यह अवस्था जिस विवेक, बोध एवं आचरण से आये वह ताओ है। मन-इंद्रियों का संयम रखना, क्षमा करना, संतोष रखना, सहनशील होना, निर्मान रहना, निष्काम रहना, सबसे समता का बरताव करना, मोह-काम-क्रोध-लोभ का त्याग रखना, ऐश्वर्य न चाहना, अंतर्मुख रहना, यह सब ताओ के अनुसार चलना है, ताओ को अपने में समाहित करना है।

मनुष्य अपने को अपूर्ण, तुच्छ और हीन मानता है। वह भोग और भगवान से अपने को पूर्ण श्रेष्ठ और महान करना चाहता है जो उसका अज्ञान है। यदि मनुष्य अपने मूलरूप में तुच्छ है तो वह कभी महान नहीं हो सकता। ग्रंथकार कहते हैं कि अपने को खंडित किये बिना, अपने को तोड़े बिना अपने में ताओ को समाहित कर लो। आप तुच्छ नहीं, महान हैं। आप अपने जीवन के ताओ को, सच्चे नियम को अपने में समाहित नहीं कर पाते हैं, इसलिए दुखी हैं। आपका ताओ तो आप में ही है। अपने मौलिक गुण-धर्म यथार्थ ज्ञान आप में ही है, वही ताओ है। उसको पहचानें और उसके अनुसार चलें। बस, सुखी रहेंगे।

जब भोजन अधिक करोगे या बहुत कम, तब आपको दुख होगा। क्योंकि आपने संतुलन रूपी ताओ को अपने में समाहित नहीं किया। आप क्रोध करेंगे तो दुख पायेंगे क्योंकि आपने सहनशीलता रूपी ताओ को जीवन से निकाल दिया। ग्रंथकार कहते हैं कि क्या आप अपने को ऐसा प्रशिक्षित कर सकते हैं कि आपके जीवन की नस-नस में ताओ समाहित हो जाये। वह तो समाहित है ही, केवल समझना है और आचरण करना है। यह सब तभी होगा जब आप अपने को खंडित न करें। अपनी मौलिक महत्ता को समझें। आप महान हैं, केवल ताओ का विस्मरण एवं अवहेलना करने से, जीवन के सही ज्ञान और आचरण के सही नियम की उपेक्षा करने से दुखी हैं। ताओ का आदर करें, जीवन के ज्ञान और नियम का आदर करें और सुखी हो जायें।

क्या आप अपनी शक्ति को एकात्म कर सकते हैं, और वह कोमलता प्राप्त कर सकते हैं जो आपको एक छोटे बच्चे की तरह बना सके? अपनी शक्ति को एकात्म करना और छोटे बच्चे की तरह कोमलता प्राप्त करना, ये दो

बातें महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य की शक्ति बिखरी हुई है, इसलिए वह अपनी दुर्बलता का अनुभव करता है। जब कहा जाता है कि तम्बाकू मत खाओ, बीड़ी मत पीयो, तब लोग कहते हैं, बड़ा मुश्किल है। कई बार छोड़ने का प्रयत्न किया, लेकिन थोड़े दिनों में पुन: खाने-पीने लगा। लोग कहते हैं कि यह ठीक है कि हमारे बच्चे जवान हो चले हैं, परंतु पत्नी से या पति के कक्ष से अलग होकर रहना असंभव दिखता है।

वस्तुत: हमारे मन की संकल्प-शक्ति चारों तरफ बिखरी है। हम संसार के नाना विषयों में अपने को बेच दिये हैं। मनुष्य जब तक अपनी पूरी शक्ति समेटकर उसे एकबद्ध न करेगा तब तक किसी महत्त्वपूर्ण कार्य को नहीं कर सकता। जो विद्यार्थी अपनी पूरी शक्ति एकात्म कर विद्या पढ़ता है, वह अच्छे नंबर से पास होता है। विज्ञान, राजनीति, व्यापार, कला, किसी भी दिशा में उन्नति करना है, तो अपनी शक्ति एकबद्ध कर उसमें एकजुट होकर लगना पड़ेगा।

जीवन का सबसे बड़ा काम है आध्यात्मिक उन्नति। इसी से सारे दुखों का अंत होकर निर्भय और शाश्वत शांति मिलती है; और इसके लिए छोटे बच्चे की तरह सरल और कोमल होना अत्यंत आवश्यक है। उपनिषद् के ऋषि कहते हैं, "ज्ञानी पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा को छोड़कर जीवनयापन करता है। वह पांडित्य को छोड़कर बालवत सरल हो जाता है। फिर मननशील मौन एवं वाक्यसंयमी हो जाता है। फिर मौन-अमौन से ऊपर उठकर आत्मतृप्त हो जाता है। ऐसा आत्मज्ञानी ही ब्राह्मण है। ऐसा ब्राह्मण कैसे हुआ जा सकता है? चाहे जिस साधन से हो, ऐसा ही हो।"[1]

अहंकार भयंकर शत्रु है। इसका जड़ से नाश हुए बिना छोटे बच्चे की तरह सरल नहीं हुआ जा सकता, और तब तक पूरी आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। ग्रंथकार पूछते हैं कि क्या आप अपनी पूरी शक्ति इकट्ठी कर और उसे एकबद्ध कर ऐसी आध्यात्मिक साधना में लग सकते हैं जिससे छोटे बच्चे की तरह कोमल एवं सरल हो जायें। यदि निर्भय और शाश्वत सुख-भोग की इच्छा है तो मात्र यही रास्ता है।

क्या आप अपनी मानसिक दृष्टि को मांजकर दाग-रहित बना सकते हैं? सीधी बात है, ग्रंथकार पूछते हैं कि क्या आप अपने मन को साधना से रगड़कर साफ कर सकते हैं, जिसमें थोड़ा भी मल न रहे? परमांनद प्राप्ति का यही रास्ता है, अन्य रास्ता ही नहीं है। हमें कौन दुख देता है? हमारे मन का मैल। अज्ञान से हम समझते हैं कि हमें दूसरा दुख देता है। दूसरे तो जैसा समझते हैं

---

1. **बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय 3, ब्राह्मण 5।**

वैसा बरताव करते हैं। संसार के सारे प्राणी अहंकार-कामना का नशा खाकर उन्मत्त हैं। उसी में मैं भी हूं। मुझे अपने नशा को सर्वथा दूर करना है। दूसरे के नशा को दूर करने का मेरा कोई वश नहीं है। हम इतना ही कर सकते हैं कि अपने नशा को दूर करें और दूसरे के नशाजनित उपद्रव को निर्विकार भाव से सहते रहें। इसी साधन से अपना बेड़ा पार होगा। दूसरे की प्रतिक्रिया में तो सोचने से ही अपना नरक है।

सारा संसार अपने मन के राग-द्वेष की आग में जल रहा है। वे धन्य हैं जो दूसरे की क्रिया-प्रतिक्रिया में न पड़कर निरंतर अपने मन के मैल को भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य की साधना में धोते हैं। वे ही अतींद्रिय, निर्विषय एवं अलौकिक दिव्य आत्मिक सुख प्राप्त करते हैं जो शाश्वत है।

क्या आप मनुष्यों को प्रेम और शासन में सहयोग दे सकते हैं। इतने पर भी आपको कोई जान न पावे? मनुष्यों को प्रेम देना और शासन में सहयोग देना, किंतु अपने को शून्यवत बनाये रखना, यह बहुत बड़ी ऊंचाई है। लोग दूसरे की थोड़ी सेवा करके उसे लोगों में बढ़ा-चढ़ाकर बताना चाहते हैं। शासन-सेवा में रहनेवाले कितने ही नेता चुनाव के समय अपनी पार्टी से जब चुनाव लड़ने के लिए टिकट नहीं पाते, तब दूसरी पार्टी में चले जाते हैं। वे शासन में सहयोग नहीं करना चाहते, अपितु शासन-क्षेत्र से अपना भौतिक-लाभ लेना चाहते हैं।

संत लाओत्ज़े कहते हैं कि प्रेम दो, अपने को शून्य बनाकर। सबसे सहज निष्कामभावपूर्वक प्रेम का व्यवहार करो। इसी प्रकार परिवार, समाज तथा राष्ट्र के शासन में सहयोग करो, किंतु अपना प्रदर्शन न करो कि मैं कुछ करता हूं। सद्‌गुरु कबीर कहते हैं, ''कर्म करे और रहै अकर्मी।''

संत लाओत्ज़े पहले सम्राट के अभिलेखागार के बड़े अधिकारी थे। पीछे वे त्यागपत्र देकर एकांत साधना में लग गये। पूर्व अनुभव होने से वे शासन की सेवा की बात करते हैं। परंतु वे सम्राट और राजकुमार को भी छोटा और शून्यवत बनकर ही शासन की सेवा करने की सीख देते हैं।

क्या आप, स्वर्ग के द्वार खुलने और बंद होने के समय मादा-पक्षी की तरह हो सकते हैं? स्वर्ग क्या है? उसका खुलना और बंद होना क्या है और मादा-पक्षी की तरह होना क्या है? संत लाओत्ज़े के एक वर्ग के अनुगामी नाक-इंद्रिय को स्वर्ग का द्वार मानते हैं। इसकी श्वास-प्रश्वास-क्रिया को स्वर्ग का द्वार खुलना और बंद होना मानते हैं। वे कहते हैं कि श्वास की साधना ऐसी सावधानी और प्रौढ़ अभ्यास में होना चाहिए कि अपने कान उसकी आवाज न सुन सकें। यह साधना जिसकी पक्की हो जाती है, वह बच्चे की तरह कोमल हो जाता है और बहुत वर्षों तक जीता है। उसका श्वास फेफड़े से नहीं, अपितु

नाभि से चलता है और उसकी अध्यात्म में सिद्धि हो जाती है। इस श्वास-साधना को उसी तरह समर्पित और एकनिष्ठ होकर करना चाहिए, जिस तरह मादा-पक्षी अंडे का एकनिष्ठ होकर सेवन करती है और चूजे निकल आने पर उनके मुख में चारा देती है।

मादा-पक्षी जैसा समर्पित, एकनिष्ठ एवं शांत होकर साधना करना तो ठीक है; परंतु नाक स्वर्ग-द्वार है और उसकी साधना स्वर्ग-द्वार का खुलना-बंद होना है और इसी श्वास-साधना से आध्यात्मिक ऊंचाई पर पहुंचा जा सकता है; यह सब महा भोलापन है। श्वास-साधना से आदमी दीर्घजीवी हो जाता है, यह भी अधिक भावुकता ही है। दीर्घजीवी होने का मोह भी अध्यात्म के विरुद्ध है। जीवन्मुक्त होकर जीना जीवन का फल है, अधिक जीने का कोई महत्त्व नहीं है।

वस्तुत: स्वर्ग-द्वार है राग-द्वेष से सर्वथा रहित मन। जितने क्षण मन राग-द्वेष-रहित है, उतने क्षण स्वर्ग का द्वार खुला है और जैसे मन में राग-द्वेष आये, वैसे स्वर्ग-द्वार बंद हो गया। अतएव साधक मादा-पक्षी की तरह विनम्र, मौन, समर्पित, एकनिष्ठ तथा तत्पर होकर स्वर्ग-द्वार खोलने की साधना करे। स्वर्ग-द्वार खोलना-बंद करना इस तरह से भी समझा जा सकता है कि निर्मल मन हो जाना स्वर्ग-द्वार खुलना है और उसमें प्रपंच न आने देना स्वर्ग-द्वार बंद करना है। कुल मिलाकर मन की पूर्ण निर्मलता में जीना स्वर्ग-प्राप्ति है। नाना मत के पौराणिकों का स्वर्ग तो गंदी विषय-वासना का नग्न तांडव है; किंतु आध्यात्मिकों का स्वर्ग मन की पूर्ण निर्मलता है। संत कबीर साहेब ने कहा है, "यदि मनुष्य मन को चंचल न करे तो वही उसका बिहिश्त है, स्वर्ग है।"[1]

क्या आप बिना कर्मों की आवश्यकता महसूस किये अपनी आंतरिक शुचिता और पवित्रता से सब में प्रवेश पा सकते हैं? कर्म सेवा है, उसकी आवश्यकता है। उसका अपने स्थान पर बहुत बड़ा महत्त्व है। किंतु सब में प्रविष्ट तो वही होता है जिसके जीवन में पूर्ण शुचिता एवं निर्मलता है। हर मनुष्य राग-द्वेष की गंदगी में लिपटा जल रहा है। ऐसे मनुष्यों के बीच में एक ऐसा मनुष्य हो जो इस गंदगी से सर्वथारहित है, तो वह सभी समझदारों का प्राण-प्यारा हो जायेगा।

पवित्रात्मा का विरोध करने वाले दुर्जन भी उनकी महत्ता को अपने मन में समझते हैं, लेकिन किसी कारण-वश उनकी निंदा करते हैं।

पवित्रात्मा यह भी नहीं सोचता कि मैं सब में प्रवेश पाऊं। जीवन की पूर्ण पवित्रता जीवन की परम उपलब्धि है। इसके बाद तो कुछ पाना रह नहीं जाता। पवित्र व्यक्ति निरंतर जीवन्मुक्ति में जीता है। उसकी शीतलता अपने आप सब

---

1. **होय बिहिस्त जो चित न डोलावे॥ बीजक, रमैनी 5॥**

में फैलती है और वह स्वयं इस बात का ख्याल भी नहीं रखता कि मेरे द्वारा कोई लाभ पा रहा है। वह अपने में कृतार्थ है। परंतु लोगों के लिए ऐसा मनुष्य ही परम सुखदाता है। उससे लोगों को निर्मल जीवन जीने की प्रेरणा मिलती है।

पैदा करना और पोषण करना, उत्पन्न करना न कि अधिकार गांठना, कार्य करना न कि कब्जा करना, बढ़ना न कि आधिपत्य जमाना, यही है रहस्यपूर्ण जीवन। लोग संतान पैदा करते हैं, शिष्य बनाते हैं तथा अन्य ढंग से मनुष्यों का संगठन करते हैं। संत लाओत्ज़े कहते हैं कि उनकी सेवा करो, उनके हित के लिए कार्य करो, किंतु उन पर कब्जा करने, अधिकार जमाने की चेष्टा न करो। आपके शुभकार्यों से आपका प्रभुत्व बढ़ रहा है, आप उन्नत हो रहे हैं, तो इनके द्वारा समाज की सेवा होने दो। उन पर अपना अधिकार जमाने की रंच मात्र इच्छा न रखो।

यही रहस्यपूर्ण जीवन है। इस जीवन में जीवन का रहस्य भरा है। जीवन का रहस्य एवं मर्म बहुत कम लोग समझते हैं। इसलिए मनुष्य दुखी हैं, विद्वान और ज्ञानी भी दुखी हैं, क्योंकि वे ज्ञानी तो हैं, शास्त्रों के ज्ञाता हैं, परंतु जीवन के ज्ञानी नहीं हैं। यह वैज्ञानिक तथ्य है कि जैसे हम किसी पर अधिकार करना चाहते है, वैसे हम स्वयं उसके अधिकार में हो जाते हैं। पूर्ण स्वतन्त्रता जीवन्मुक्ति है, और वह पूर्ण स्वतंत्र नहीं हो सकता जो दूसरों को अपना गुलाम बनाकर रखना चाहता है। अतएव जीवन के रहस्य को उसने समझा जो सेवा करता है, प्रेम करता है, किंतु किसी पर अपना अधिकार नहीं जमाना चाहता।

11. खालीपन के महत्त्व को समझें

1. *Thirty spokes surround the hub:*
   In their nothingness consists the carriage's effectiveness.
   One hollows the clay and shapes it into pots:
   In its nothingness consists the pot's effectiveness.
   One cuts out doors and windows to make the chamber:
   In their nothingness consists the chamber's effectiveness.

2. *Therefore: what exists serves for possession. What does not exist serves for effectiveness.*

अनुवाद

1. *तीस तीलियां नाभि को घेरती हैं,*
   उनके बीच का खाली आकाश ही गाड़ी को उपयोगी बनाता है।
   मिट्टी को खोखला करके उसे पात्र के रूप में आकार दिया जाता है,
   उसके अवकाश में ही पात्र की उपयोगिता है।
   दरवाजे और खिड़की को काटकर कक्ष बनाया जाता है,
   उसके भीतर के शून्य में ही कमरे की उपयोगिता है।

2. *अतएव,*
   जो दिखता है, वह धारण करता है।
   जो नहीं दिखता वह इसे उपयोगी बनाता है।

भावार्थ—1. तीस तीलियां नाभि को घेरती हैं। उनके बीच के शून्य स्थान में ही धुरा रहकर गाड़ी को चलाता है। अत: शून्य ही उसे उपयोगी बनाता है। मिट्टी को पानी में सानकर उसे ठोक-पीटकर घड़ा का आकार दिया जाता है, परंतु उसके भीतर का शून्य स्थान ही घड़ा को उपयोगी बनाता है। दीवार तथा छत बनाकर और दरवाजा-खिड़की काटकर घर बनाया जाता है, परंतु उसके भीतर की खाली जगह ही उसे उपयोगी बनाती है।

2. अतएव जो दिखता है, वह धारण करता है, और उसमें रहा हुआ शून्य उसे उपयोगी बनाता है।

भाष्य—तीस तीलियां नाभि को घेरती हैं। उनके बीच का खाली आकाश ही गाड़ी को उपयोगी बनाता है। यह सर्वसाधारण अनुभव है। नाभि और वलय (परिधि) के बीच में तिरछी तीलियां लगी रहती हैं जो पहिये को शक्तिशाली बनाती हैं। नाभि में शून्य होता है। उसी में धुरा होता है जो गाड़ी में कसा होता है। नाभि के बीच की शून्य जगह ही गाड़ी को गति देने में उपयोगी होती है। इसी प्रकार मिट्टी या धातु से बने घड़े या अन्य बरतन में जो खाली जगह है उसी में जल तथा अन्य पदार्थ रखे जाते हैं। इसी प्रकार मकान की खाली जगह में मनुष्य रहते हैं। मकान तो दीवार और छत हैं। उनमें कोई नहीं रह सकता, अपितु जो उसमें खाली जगह है, शून्य है, उसी में मनुष्य रहता है।

अतएव जो दिखता है वह धारण करता है और जो नहीं दिखता है, अर्थात शून्य है, वह इसे उपयोगी बनाता है। संत लाओत्ज़े यह कहकर जीवन के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पक्षों को सामने रखते हैं। वे कहते हैं कि सकारात्मक ही नहीं नकारात्मक पक्ष भी उपयोगी होता है। अनुकूल लोगों से हमें सहयोग मिलता है और प्रतिकूल लोगों की आलोचना और विरोध से भी हमारे जीवन में सीख मिलती है।

अनुकूलता प्यारी लगती है। अनुकूलता ही में लंबे समय तक काम किया जा सकता है। परंतु प्रतिकूल व्यक्ति और परिस्थिति से हमें आत्म-निरीक्षण करने का अवसर मिलता है। केवल अनुकूलता में रहने वाला मनुष्य पूरा नहीं सुधर सकता। बीच-बीच में प्रतिकूलता की ठोकरें हमारी आंखें खोलती हैं। बहुत दिन की साधना से जो बंधन नहीं कटता, वह प्रतिकूलता के एक झटके में टूट जाता है। अतएव हमें अपने विरोधी से घबराना नहीं चाहिए। इसी तरह प्रतिकूल परिस्थितियों से भी नहीं घबराना चाहिए। सद्गुरु कबीर ने इसी स्थिति की बात कही है, ''निंदक नियरे राखिये, आंगन कुटी छवाय। बिनु पानी बिनु साबुन, निर्मल करे सुभाय।'' माताएं तो बच्चों का मल हाथ से धोती हैं, किंतु निंदक हमारा मल अपने मुंह से धोता है।

नाभि का खालीपन गाड़ी को चलाता है, बरतन का खालीपन वस्तु रखने का स्थान देता है और मकान का खालीपन मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों को निवास देता है। इसी प्रकार हमारे मन का खालीपन परम शांति देता है। अंतिम साधना है मन को एकदम खाली कर देना।

हमने अनादिकाल से अपने मन में संसार के पदार्थों का लालच-लोभ भर रखा है, नाना वासनाएं तथा राग-द्वेष का विकार जमा कर रखा है। अब आवश्यक यह है कि इन्हें मन से निकाल फेंकें, और नया कुछ न भरें। शुभ वासना रखकर अशुभ वासना का त्याग करें और अंततः शुभाशुभ सभी वासनाओं का त्याग करें।

कुछ न सोचना ही सहज समाधि है। यही निर्विकल्प समाधि है और यही असंप्रज्ञात समाधि है। अतएव मन को एकदम खाली कर देना जीवन की महान उपलब्धि है। यह दीर्घकाल की साधना से होता है। वे धन्य हैं जिनका मन खाली रहता है। सद्गुरु कबीर ने इसी लक्ष्य को लेकर कहा है, "यदि जगत में जीने की कला जानते हो और जीव को—आत्मा को जानते हो, तो अपने पीये हुए पानी को पचा दो तथा आगे पुन: पानी मांगकर मत पीयो।"[1] इसका अभिप्राय यह है कि यदि तुम अपने आत्मतत्त्व के निरालेपन को जानते हो और यह जीवन किस दशा में सार्थक होगा, यह जानते हो तो, ग्रहण की हुई पुरानी वासनाओं को नष्ट कर दो और आगे कोई वासना न ग्रहण करो।

न परमात्मा पाना है और न मोक्ष पाना है, किंतु आज तक जो कुछ पा रखा है, उसे पूरा खो देना है। फिर सब कुछ छोड़ देने के बाद स्वयं मुक्तरूप परमात्मा है। स्वरूपबोध हो गया और मन वासनाहीन, खाली हो गया, बस बेड़ा पार, सदैव कृतार्थ स्वरूप है।

हमें अपने स्वरूप का ठीक से बोध न होने से हम बाहर भोग और भगवान से तृप्ति पाने की आशा रखते हैं, और इसी आशा में लगी नाना वासनाएं मन में भरते रहते हैं और मृगतृष्णा में भटकते रहते हैं। भोग दृश्यमान जड़-पदार्थ है जो क्षण-क्षण नाशवान और वासना बनाकर छूट जाने वाला है। भगवान मन की कल्पना है, जो कभी मिलने की वस्तु नहीं।

जब हमें पक्का बोध हो जाता है कि हमारा 'स्व' पूर्ण है, हमें बाहर से कुछ नहीं चाहिए। इस बोध के बल से जब हम मन को खाली कर देते हैं, सारी वासनाएं-तृष्णाएं निकाल फेंकते हैं, तब स्वयं तृप्त शेष रह जाते हैं, जो शाश्वत स्थिति है। अतएव कल्याण-इच्छुक को चाहिए कि वह विवेकी सद्गुरु से अपने स्वरूप को ठीक से जाने और पीछे अपने मन की सारी वासनाओं को निकालकर उसे खाली कर दे, फिर जीवन्मुक्ति सुख का उपभोग करे।

---

1. **जो जानहु जग जीवना, जो जानहु सो जीव।**
पानि पचावहु आपना, तो पानी माँगि न पीव॥ बीजक, साखी 11॥

12. विलास नहीं, सादा जीवन सुखप्रद है

1. *The five colours blind men's eyes.*
   The five tones deafen men's ears.
   The five flavours spoil men's palates.
   Running and chasing make men's hearts mad.
   Rare goods confuse men's ways.

2. *Therefore the Man of Calling*
   works for the body's needs, not for the eye's.
   He removes the other and takes this.

अनुवाद

1. *पांच रंग मनुष्य की आंखों को अंधा कर देते हैं।*
   पंच स्वर मनुष्य के कानों को बहरा कर देते हैं।
   पंच स्वाद मनुष्य की जिभ्या को बिगाड़ देते हैं।
   चीजों के लिए भाग-दौड़ मनुष्य को पागल बना देती है।
   बहुमूल्य वस्तुएं मनुष्य को आचरणभ्रष्ट करती हैं।

2. *अतएव,*
   संत शरीर की आवश्यकता के लिए काम करते हैं,
   आंखों के लिए नहीं।
   वे दूसरे को छोड़कर, इसको ग्रहण करते हैं।

भावार्थ—1. मनुष्य को पांच रंग अंधा बनाते हैं, पांच शब्द बहरा बनाते हैं, पांच स्वाद उसकी जीभ को बिगाड़ते हैं, वस्तुओं के लिए भागादौड़ी उसे पागल बनाती है और बहुमूल्य वस्तुएं उसे आचरणभ्रष्ट करती हैं।

2. इसलिए संत शरीर-निर्वाह मात्र के लिए काम करते हैं, इंद्रियों के भोग-विलास के लिए नहीं। वे बाहरी भागदौड़ छोड़कर संतोष ग्रहण करते हैं।

भाष्य—पांच रंग हैं—नीला, लाल, पीला, उजला तथा काला। पांच स्वर हैं—(चीनियों के अनुसार) G, A, B, D, E, तथा (इंगलिश के अनुसार) C, D, E, G, A, और भारतीय ढंग से कहें तो सात स्वर हैं—सा, रे, ग, म, प, ध,

नी। पांच स्वाद हैं—तीखा, नमकीन, मीठा, खट्टा तथा चर्फरा। भारतीय ढंग से कहें तो षटरस—मीठा, नमकीन, कड़वा, तीता, कसैला और खट्टा।

कुल मिलाकर ग्रंथकार का कहना है कि इंद्रियों के विषयों में लगने पर मनुष्य विवेकहीन होकर भटकता है। जब हम किसी स्त्री, पुरुष, मकान, गाड़ी या किसी दृश्य में मोह एवं लोभ करते हैं, तब हमारा मन चंचल हो जाता है, हम अपनी शांति खो देते हैं। ऐसी स्थिति में हम महत्त्वहीन होकर पतित हो जाते हैं। यह आंतरिक पतन है। सुंदर दिखने वाले नर-नारी या पदार्थ न सदैव सुंदर रहते हैं, न हमारे निकट रह सकते हैं और यदि कुछ समय के लिए निकट भी रहें, तो उनसे हमें शांति नहीं मिल सकती। अतएव रंग-रूप में मोहकर अपनी आंखों को अंधा करना है। बाहरी अनात्म, विकारी, क्षणभंगुर रूपों-रंगों में मोहित होने वाला अपने आंतरिक स्वरूप को नहीं देख सकता।

बाहरी स्वर के मोह में फंसा व्यक्ति अपने आंतरिक स्वर को, अंतरात्मा के स्वर को नहीं सुन सकता। बाहरी स्वर-संगीत में मोहित व्यक्ति भीतर का स्वर-रहित स्वर—आत्मानुभव की स्थिति में नहीं पहुंच सकता। भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य प्रेरक गीत से लाभ उठाना हितकर है, परंतु संगीत-स्वर में डूबना साधना-विरोधी है।

पंच स्वाद मनुष्य की जीभ को बिगाड़ देते हैं। हर खाद्य तथा पेय वस्तु में स्वाद होता है। लेकिन उन्हें अधिक स्वादीला बनाकर बिगाड़ा जाता है जो पेट और मन दोनों के लिए अहितकर होते हैं। केवल जठर-ज्वाला को शांत करने के लिए भोजन औषध रूप में ही लेना चाहिए। जीभ-स्वाद का लंपट मनुष्य शुद्ध ब्रह्मचर्य का न पालन कर सकता है और न आध्यात्मिक साधना में आगे बढ़ सकता है। भोजन सदैव सात्विक, शुद्ध, सुपाच्य तथा संतुलित लेना चाहिए।

चीजों के लिए भाग-दौड़ मनुष्य को पागल बना देती है। जीवन-निर्वाह की चीजों की आवश्यकता सबको है, किंतु रजोगुणी मन वस्तुओं का ढेर लगाकर उससे सुख पाने की दुराशा करता है। फल यह होता है कि आत्म-कल्याण के लिए साधना करने का समय और बल दुनिया के कबाड़ बटोरने में लगा देता है। लौकिक वस्तुओं के बेतहाशा बटोरने की तृष्णा में मनुष्य रात-दिन उन्हीं का चिंतन करता है और उनके लिए नीति-अनीति, राग-द्वेष करता है, अतएव उसका मन विक्षिप्त होकर उसी के पीछे लगा रहता है। उसे संत संगत, स्वाध्याय, आत्मचिंतन, ध्यान, मन को खाली कर शांति में रहने का अवसर कहां!

बहुमूल्य वस्तुएं मनुष्य को आचरणभ्रष्ट करती हैं। चांदी, सोना, हीरे, मोती, रत्न तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं को पाने के लिए और उनके संग्रह के लिए मनुष्य अनेक प्रकार से दूसरे के अधिकार को छीनता है। यहां तक कि

अपने माता, पिता, भाई, पुत्र, पति, पत्नी के साथ दुर्व्यवहार करता है। मन और आचरण को भ्रष्ट करना अपना नरक है, फिर ये कंकर-पत्थर उसको क्या सुख दे सकते हैं!

ग्रंथकार कहते हैं, **इसलिए संत शरीर की आवश्यकता के लिए काम करते हैं, आंखों के लिए नहीं। वे दूसरे को छोड़कर इसको ग्रहण करते हैं।** संत वही है जो अपनी श्रेणी और परिस्थिति के अनुसार काम करे और बदले में केवल शरीर-निर्वाह के लिए सादा भोजन-वस्त्र आदि ले। इसके अतिरिक्त कुछ न चाहे। ग्रंथकार कहते हैं कि संत आंखों के लिए काम नहीं करते। यहां आंख का अर्थ लाक्षणिक है। इसका अभिप्राय है कि वे मन-इंद्रियों के भोग-विलास के लिए प्रयत्न नहीं करते। **संत दूसरे को छोड़कर इसको ग्रहण करते हैं।** अर्थात विलासी वस्तु एवं व्यवहार छोड़कर सादा जीवन और संतोष का रास्ता पकड़ते हैं।

ऐश्वर्य की कामना रखनेवाला अंतर्मुख नहीं हो सकता। जो ऐश्वर्य की कामना रखता है वह दोनों तरफ से जाता है। ऐश्वर्य अंतत: छूट ही जाना है और उसने ऐश्वर्य के लोभ में स्थिर स्वरूपस्थिति स्वयं छोड़ दी। कौन विवेकवान छूटनेवाली झूठी वस्तुओं का लालच करके अपने अविचल आत्म-शांति धाम को छोड़ देगा!

13. ऐश्वर्य और सम्मान का मोह छोड़कर दूसरों को आदर और प्रेम दें

1. *Grace is as shameful as a fright.*
   Honour is a great evil like the persona.

2. *What does this mean: 'Grace is as shameful as a fright'?*
   Grace is something inferior.
   One attains it, and one is as if frightened.
   This is what is meant by 'Grace is as shameful as a fright'.

3. *What does this mean: 'Honour is a great evil like the persona'?*
   The reason I experience great evil is
   that I have a persona.
   If I have no persona:
   What evil could I experience?

4. *Therefore: whosoever honours the world in his persona*
   to him one may entrust the world.
   Whosoever loves the world in his persona
   To him one may hand over the world.

अनुवाद

1. *ऐश्वर्य वैसा ही लज्जाजनक है जैसा कि भय।*
   सम्मान वैसी ही बड़ी बुराई है जैसा कि दिखावा।

2. *इसका क्या अर्थ हुआ,*
   'ऐश्वर्य वैसा ही लज्जाजनक है जैसा कि भय?'
   ऐश्वर्य बिलकुल तुच्छ है।
   यह प्राप्त होता है और पाने वाला भयभीत-सा हो जाता है।
   यही इस कथन का अर्थ है, 'ऐश्वर्य वैसा ही लज्जाजनक है जैसा कि भय।'

3. *इसका क्या अर्थ हुआ,*
   'सम्मान वैसी ही बड़ी बुराई है जैसा कि दिखावा?'

(उसका छूटना) मैं बुरा महसूस करता हूं,
इसका कारण है मुझमें अहंकार होना,
यदि मुझे अहंकार न होता,
तो मुझे बुरा क्यों लगता?

4. *अतएव,*
जो संसार को वैसा ही सम्मान देता है जैसा स्वयं को,
उसको विश्वासपूर्वक संसार सौंपा जा सकता है।
जो संसार को वैसा ही प्रेम करता है जैसा स्वयं को,
उसे संसार की सत्ता सौंपी जा सकती है।

भावार्थ—1. ऐश्वर्य वैसा ही लज्जा उत्पन्न करने वाला है जैसा कि भय। सम्मान वैसा ही बड़ा दोष है जैसा कि दिखावा।

2. इसका क्या अर्थ है कि ऐश्वर्य भय की तरह लज्जाजनक है? क्योंकि ऐश्वर्य बिलकुल तुच्छ है। यह प्राप्त होता है और पानेवाला भयभीत हो जाता है।

3. इसका क्या अर्थ है कि सम्मान दिखावा की तरह दोषजनक है? क्योंकि सम्मान का छूटना मुझे बुरा लगता है। इसका हेतु है मुझमें अहंकार होना। यदि मुझमें अहंकार न हो तो सम्मान का छूटना बुरा क्यों लगता?

4. इसलिए जो अपने समान संसार का आदर करता है उसे संसार सौंपा जा सकता है। जो अपने समान संसार को प्रेम देता है उसे सत्ता सौंपी जा सकती है।

भाष्य—ऐश्वर्य वैसा ही लज्जाजनक है जैसा कि भय। इसका क्या अर्थ है? मूल इंगलिश पाठ में है, "Grace is as shameful as a fright." इसका शाब्दिक अर्थ होगा, कृपा वैसी ही लज्जाजनक है जैसा कि भय। यहां कृपा शब्द लाक्षणिक है, जो ऐश्वर्य के लिए है। जब मनुष्य को ऐश्वर्य मिलता है तब वह कहता है कि यह ईश्वर की कृपा है, प्रकृति का वरदान है अथवा गुरु की कृपा है। संत लाओत्ज़े कहते हैं, यह ग्रेस, यह कृपा, यह ऐश्वर्य लज्जाजनक है। वस्तुत: बहुत ऐश्वर्य इकट्ठा होता है बहुतों का अधिकार छीनकर। अतएव वह लज्जाजनक ही है। किंतु सन्निपातग्रस्त अभिमानी मनुष्य लज्जा न कर उसका प्रदर्शन करता है।

एक नेता मिलने आये। उनकी पत्नी उनके साथ थीं। वे कीमती आभूषणों से लदी थीं। उनके घर की संपत्ति साधारण थी। नेता मंत्री हो गये थे। मंत्री के पास धन आता ही है। ऐसे ऐश्वर्य से उन्हें लज्जा नहीं थी, क्योंकि मन इतने नीचे स्तर का था कि लज्जाजनक स्थिति महत्त्वपूर्ण लगती थी।

सारा ऐश्वर्य प्रकृति का है और उसके उपभोक्ता प्राणी मात्र हैं। व्यवहार में उसका बटवारा है। किंतु किसी भी ऐश्वर्य को यदि एक व्यक्ति अपना मानता है और वह अकेला ही उसका भोग करना चाहता है तो यह उसके लिए लज्जाजनक होना चाहिए। किसी भी ऐश्वर्य पर परिवार तथा समाज का अधिकार होना चाहिए, एक व्यक्ति का नहीं। अपितु यह समझना चाहिए कि ऐश्वर्य किसी का नहीं है। यह तो प्रकृति का कार्य है। इसका संवर्द्धन, संरक्षण एवं उपभोग उस समूह को समतापूर्वक करना चाहिए।

ऐश्वर्य भय की भांति लज्जाजनक है। अपने मन के भय को लोग छिपाते हैं। उसे प्रकट करने में लज्जा करते हैं। वैसे ही ऐश्वर्य पर व्यक्तिगत अधिकार जताने में लज्जा करना चाहिए।

ग्रंथकार कहते हैं **ऐश्वर्य लज्जाजनक उसी प्रकार है जिस प्रकार कि भय, इसका क्या अर्थ है?** वे स्वयं उत्तर देते हैं कि **ऐश्वर्य बिलकुल तुच्छ है। यह प्राप्त होता है और पाने वाला भयभीत हो जाता है।** किसी भी लौकिक ऐश्वर्य के छूटने का भय मन पर सवार हो जाता है।

जीवन की सच्ची उपलब्धि है मन का स्वस्थ, प्रसन्न, निर्मल एवं निर्भय रहना। ऐश्वर्य से घिरकर जब मन भयभीत, उद्वेगित, राग-द्वेषपूर्ण एवं मलिन हो गया तो ऐश्वर्य हितकारी कहां हुआ? अतएव जीवन में सच्ची उन्नति चाहने वाले को स्वयं को ऐश्वर्य से नहीं जोड़ना चाहिए। अंततः ऐश्वर्य किसी का है भी नहीं।

सब ऐश्वर्य नास्ति के माहीं।
जाके पीछे जिव बौराहीं॥ पंचग्रंथी॥

इसका क्या अर्थ हुआ, सम्मान वैसी ही बड़ी बुराई है जैसा कि दिखावा। ग्रंथकार उत्तर देते हैं, **उसका छूटना मैं बुरा महसूस करता हूं। इसका कारण है मुझमें अहंकार होना। यदि मुझमें अहंकार न होता तो सम्मान का छूटना बुरा क्यों लगता?**

मनुष्य को चाहे जो कुछ मिले, उसके पास कुछ रहने वाला नहीं है। सारा मिलना क्षणिक है; अतएव उसका छूट जाना पक्का है। मनुष्य मिलने वाली वस्तुओं में अपने को जोड़ लेता है। उनमें अहंता-ममता कर लेता है। इसलिए उनके संभावित वियोग की याद कर भयभीत होता है। यह उसके अहंकार के कारण है।

अपने भौतिक एवं मानसिक गुणों का प्रदर्शन करना, दिखावा करना, अपना ओछापन है। वैसा ही लोगों द्वारा अपने लिए मिले हुए सम्मान को महत्त्व देना ओछापन है। सम्मान देने वाले का मन बदल जाने पर अपमान भी दे सकता

है। सम्मान कोई देता है, यह उसका मन है। न हम मिलने वाले सम्मान को रोक सकते हैं और न अपमान को। हम अपने अहंकार को मिटाकर रह सकते हैं; और यदि हमने अपने अहंकार को सर्वथा मिटा लिया, तो बाहर से मिलने वाले सम्मान और अपमान का कोई मूल्य नहीं रह गया।

हमारे जीवन का सच्चा सुख वह है जो केवल हमारे ऊपर ही निर्भर हो। हमारे जीवन का सच्चा सुख है अविचल, निर्भय, शाश्वत शांति। वह हमारे आत्मसंयम पर निर्भर है। आत्मसंयम स्वावलंबन का विषय है। सद्‌गुरु कबीर ने कहा है, "सदा रहे सुख संयम अपने, बसुधा आदि कुमारी।"[1] बसुधा-वसु को धारण करनेवाली, धन को धारण करनेवाली पृथ्वी, उसका राजकाज और उसका ऐश्वर्य माया सदा से कुंआरी है, अविवाहिता है। उसे कोई अपने वश में नहीं कर पाया। उससे स्थिर सुख की आशा करना भयंकर धोखा खाना है।

फिर स्थिर सुख का साधन क्या है? 'सदा रहे सुख संयम अपने' अपने पर संयम रखने से सदा सुख है, स्थिर सुख है। पूर्ण आत्मसंयम पूर्ण सुख है।

संत लाओत्ज़े कहते हैं कि ऐश्वर्य और सम्मान के मोह में फंसा मनुष्य मिथ्या अहंकारग्रस्त है। उसे जीवन में दुख उठाना है।

अतएव जो संसार को वैसा ही सम्मान देता है जैसा स्वयं को, उसको विश्वासपूर्वक संसार सौंपा जा सकता है। जो संसार को वैसा ही प्रेम करता है जैसा स्वयं को, उसे संसार की सत्ता सौंपी जा सकती है।

ग्रंथकार कहते हैं कि उच्चतम मनुष्य वह है जो अपने सुख-दुख के समान दूसरे के सुख-दुख को देखता है और दूसरों को सम्मान और प्रेम देता है, उसे संसार एवं सत्ता सौंपी जा सकती है। परिवार, समाज, पार्टी या किसी भी समूह में वही सबका विश्वसनीय होता है जो स्वयं पर संयम रखता है और दूसरों के साथ सुंदर बरताव करता है।

हमें सम्मान और प्रेम मिलते हैं तो वे अच्छे लगते हैं। यदि विवेक है तो हम उनमें राग नहीं करते, उनका अहंकार नहीं करते। इसलिए वे हमारे बंधन के कारण नहीं बनते हैं। वह धन्य है जो अपने मन की तरह अन्य के मन को जानकर उन्हें सम्मान और प्रेम देता है। सरल भाव यह है कि किसी समूह का सच्चा और अच्छा सेवक वही हो सकता है जो दूसरों को सम्मान और प्रेम दे सके।

---

1. **बीजक, शब्द 82।**

14. ताओ की व्यापकता और गंभीरता

1. *One looks for it and does not see it:*
   its name is 'seed'.
   One listens for it and does not hear it:
   its name is 'subtle'.
   One reaches for it and does not feel it:
   its name is 'small'.
   These three cannot be separated,
   therefore, intermingled they form the One.

2. *Its highest is not light,*
   its lowest is not dark.
   Welling up without interruption,
   one cannot name it.
   It returns again to non-existence.
   This is called the formless form,
   the objectless image.
   This is called the darkly chaotic.

3. *Walking towards it one does not see its face;*
   following it one does not see its back.
   If one holds fast to the DAO of antiquity
   in order to master today's existence
   one may know the ancient beginning.
   This means: DAO's continuous thread.

अनुवाद

1. *इसे देखें और यह दिखता नहीं,*
   इसको कहते हैं 'बीज।'
   इसे सुनें और यह सुनाई देता नहीं।
   इसको कहते हैं 'सूक्ष्म।'

इसे स्पर्श करना चाहें और यह अ-स्पर्श रह जाये,
इसको कहते हैं 'लघु।'
इन तीनों को अलग नहीं किया जा सकता है।
अतएव,
आपस में मिलकर ये 'एक' बनते हैं।

2. *इसकी महत्तम ऊंचाई प्रकाश नहीं है,*
इसकी गहराई अंधकार नहीं है।
अबाध गति से प्रवाहित है यह,
इसे नाम नहीं दिया जा सकता।
यह पुन: अव्यक्त की ओर लौटता है।
यह रूप-रहित रूप है।
यह वस्तु-रहित छाया है।
यह गहन दुर्गम है।

3. *इसकी ओर चलें, इसका चेहरा नहीं दिखता;*
इसका अनुगमन करें, इसका पृष्ठ भाग नहीं दिखता।
जब आप पुरातन ताओ को दृढ़ता से पकड़ते हैं,
अपने वर्तमान अस्तित्व को बनाये रखने के लिए,
तब इसका आदि-स्रोत जानने में आता है।
इसका भाव है, ताओ के तंतु सर्वत्र हैं।

भावार्थ—1. इसे देखते हैं, परंतु दिखता नहीं, यह 'बीज' कहा जाता है। इसे सुनें और यह सुनायी नहीं देता, इसे कहते हैं 'सूक्ष्म'। इसे छूना चाहे, परंतु यह छूने में नहीं आता, इसे कहते हैं 'लघु'। ये तीनों एक हैं।

2. प्रकाश इसकी पूर्ण ऊंचाई नहीं है। अंधकार इसकी गहराई नहीं है। यह विघ्नरहित गतिमान है। इसे नाम देना कठिन है। यह पुन: अव्यक्त की तरफ लौटता है। यह रूप-रहित रूप तथा वस्तु-रहित छाया है। इसे समझना बहुत कठिन है।

3. इसके सामने चलने पर इसका मुख नहीं दिखता। इसके पीछे चलने पर इसकी पीठ नहीं दिखती। जब मनुष्य अपने जीवन की रक्षा के लिए पुरातन ताओ को दृढ़ता से पकड़ता है, तब इसका मूल जानने में आता है। इसका तात्पर्य है कि ताओ के तंतु सर्वत्र हैं।

भाष्य—इस संदर्भ में ताओ की महिमा में कथन है। संत लाओत्ज़े जब ताओ की चर्चा करते हैं तब वे भावविभोर हो जाते हैं, भावुक हो जाते हैं। ताओ ईश्वर नहीं है, कोई व्यक्ति नहीं है, किंतु जड़-चेतन-सृष्टि में व्याप्त

वस्तुगत नियम है जिससे सारा संसार गतिमान है। यूनिवर्सल लॉ एवं विश्व-सत्ता का नियम ताओ है। संसार में जो कुछ होता है वह ताओ से होता है। जड़-चेतन-सृष्टि में नियम के असंख्य रूप हैं, किंतु संज्ञा रूप नियम एकवचन में चलता है वही ताओ है।

ताओ को, नियम को हम देखना चाहते हैं, परंतु उसे देख नहीं पाते, सुनना चाहते हैं, परंतु सुन नहीं पाते, और उसे छूना चाहते हैं, परंतु छू नहीं पाते। न दिखने से वह 'बीज' है, न सुनायी देने से वह 'सूक्ष्म' है और छूने में न आने से वह 'लघु' है। 'ताओ ते चिंग' के अनुवादक तथा चीनी भाषा के विशेषज्ञ जेम्स लेगी और रिचर्ड विल्हम ने बीज, सूक्ष्म और लघु को लिखा है कि चीनीभाषा में इन्हें क्रमशः ई, ही, वी, कहा गया है।

सन 1823, 1870, 1884 ई0 में कुछ पश्चिम के विद्वानों ने उक्त तीनों लक्षणों को यहूदियों के ईश्वर के गुणों से तुलना की है। किंतु लेगी और विल्हम दोनों विद्वानों ने इसका खंडन किया है और कहा है कि लाओत्ज़े का ताओ कोई व्यक्ति नहीं है, कोई ईश्वर नहीं है, यह बात उनकी पुस्तक में अत्यंत स्पष्ट है। जेम्स लेगी ने लिखा, "इस अध्याय से यह स्पष्ट है कि लाओत्ज़े के मन में किसी व्यक्ति-ईश्वर का भाव नहीं है; अपितु वे उस रहस्यमय ताओ की कार्यविधि और उस मार्ग का वर्णन करते हैं जिसके अनुसार दृश्य-जगत संचालित होता है और जो मानव के लिए अगोचर है, और इसका आनुमानिक वर्णन केवल उतना ही संभव है जितना कि बुद्धि की पहुंच में आता है।"[1]

ताओ बीज है, सूक्ष्म है और लघु है, यह कथन उसकी महिमा में है। हम जड़तत्त्वों के सूक्ष्मतम स्वरूप परमाणुओं को भी नहीं देख पाते हैं, चेतन आत्माओं को देख पाना तो असंभव है ही। हम परमाणुओं के संगठित स्वरूप कार्य-पदार्थों को ही देख पाते हैं; परंतु उनमें रहे हुए स्वतः नियमों को कभी नहीं देख पाते। बीज, सूक्ष्म और लघु यह तो ताओ की महिमा के शब्द हैं। वस्तुतः तीनों मिलकर एक ही है विश्वव्यापी नियम।

इसकी महत्तम ऊंचाई प्रकाश नहीं है और गहराई अंधकार नहीं है। ताओ एवं विश्वव्यापी नियम प्रकाश और अंधकार तक ही नहीं है। यह तो देश-काल

---

1. **Lao-tze has not in the chapter a personal being before his mind, but the procedure of his mysterious Tao, the course according to which the visible phenomena take place, incognisable by human sense and capable of only apporximate description by terms appropriate to what is within the domain of sense.**

(Page 12, Tao Te Ching : James Legge)

व्यापी अनंत है। अतएव प्रकाश और अंधकार से इसका सीमांकन नहीं हो सकता। **यह अबाधगति से प्रवाहित है। इसे नाम नहीं दिया जा सकता।** नाम तो ताओ दिया ही गया। अन्य लोगों ने अन्य नाम दिया। वेद के ऋषियों ने इसे ऋत कहा। कई विद्वानों ने इसे विशेष, विश्वव्यापी नियम, यूनिवर्सल लॉ आदि कहा। यह सतत प्रवाहित है, यह सच है।

यह पुनः अव्यक्त की ओर लौटता है। विश्वव्यापी नियमों द्वारा प्रकृति से नाना कार्य-पदार्थ बनते हैं और वे पुनः अपने कारण में विलीन होकर अव्यक्त-अप्रकट-अदृश्य हो जाते हैं। **यह रूप-रहित रूप है और वस्तु-रहित छाया है।** नियमों के दृश्यमान रूप नहीं हैं, परंतु संसार के सारे रूप उन्हीं से बनते हैं। ताओ का रूप नहीं है, परंतु उसकी छाया अर्थात प्रभाव समस्त जड़-चेतन-सृष्टि में व्याप्त है। दृश्यमान-जगत में जितने रूप प्रतीत होते हैं, सब ताओ के, विश्व-नियमों के बल से ही हैं।

यह गहन दुर्गम है। इसे समझना अत्यंत कठिन है, यह कथन भी सच ही है। यह विचित्रता भरा संसार जो दिखायी देता है, इन सबके अंतराल में व्याप्त नियमों को समझना अत्यंत कठिन है।

इसकी ओर चलें, इसका चेहरा नहीं दिखता, इसका अनुगमन करें, इसका पृष्ठभाग नहीं दिखता। यह वाक्य भी ताओ की, विश्वव्यापी नियम की महिमा में लिखा गया है। यह न आगे से दिखता है और न पीछे से, यह कथन लाक्षणिक है। इसका तात्पर्य है कि इसको समझ पाना कठिन है।

जब आप पुरातन ताओ को दृढ़ता से पकड़ते हैं, अपने वर्तमान अस्तित्व को बनाये रखने के लिए, तब इसका आदि स्रोत जानने में आता है। इसका भाव है, ताओ के तंतु सर्वत्र हैं। इसका अर्थ है कि जब हम अपने कल्याण के लिए स्वाभाविक ताओ का अनुगमन करते हैं, जीवन के जिन नियमों से बंधन कटते हैं उनका आचरण करते हैं, तब ताओ का मूल समझ में आता है। मन का ताओ है, नियम है कि यदि अहंकार किया जायेगा तो बंधन बनेगा, दुख होगा। यदि अहंकार त्याग किया जायेगा तो मुक्ति होगी, शांति होगी। सांसारिक इच्छाओं में पड़ने पर बंधन और दुख आना स्वाभाविक है और इच्छारहित रहने से बंधन और दुख से छुटकारा है। यही ताओ है, नियम है।

प्रकृति के ताओ से, नियम से वर्षा, ऋतु-परिवर्तन, नाना निर्माण-विनाश चलते हैं। मानसिक और भौतिक दोनों जगत में ताओ व्याप्त है, विश्वनियम व्याप्त है। ग्रंथकार कहते हैं कि ताओ के तंतु सर्वत्र हैं। समस्त जड़-चेतन-सृष्टि में ताओ के तंतु फैले हैं। वेद के ऋषि कहते हैं, **समस्त द्युलोक, समस्त पृथ्वी, समस्त भुवन, समस्त दिशाएं तथा समस्त स्वर्ग में ऋत के— विश्वव्यापी नियम के तंतु फैले हैं, किंतु जो उनको भी चीरकर पारदृष्टि वाला**

हो जाता है, वह तत्काल उसको देख लेता है, वही हो जाता है। वह वही है ही।[1]

वेद के ऋषि कहते हैं कि ऋत के तंतु सर्वत्र फैले हैं। उन्हीं से संसार का सब कुछ हो रहा है। किंतु जो इसको भी चीरकर आगे बढ़ जाता है वह आत्मा को देख लेता है, आत्मा हो जाता है, क्योंकि मनुष्य आत्मा है ही। ताओ, ऋत, विश्वव्यापी नियम, सबकुछ समझने का अर्थ है स्वयं को समझकर सबसे मुक्त हो जाना।

ज्ञान का अर्थ है जड़-चेतन के नियमों को समझना और जीवन में ऐसे नियमों से चलना जिससे मन सबकी आसक्ति से पूर्ण मुक्त होकर आत्मलीन हो जाय। ज्ञान का प्रयोजन है दुखों से छूटना, और सबका अभाव करके आत्मलीन हुए बिना दुखों से नहीं छूटा जा सकता।

---

1. परि द्यावापृथिवी सद्यऽइत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्॥ यजुर्वेद 32/12॥

15. पूर्ण संत की रहनी

1. *Those who in ancient times were competent as Masters*
   were one with the invisible forces of the hidden.
   They were deep so that one cannot know them.
   Because one cannot know them
   therefore one can only painfully describe their exterior.

2. *Hesitating, like one who crosses a river in winter,*
   cautious, like one who fears neighbours on all sides,
   reluctant, like guests,
   dissolving like ice that is melting,
   simple like unworked matter:
   broad they were, like the valley,
   impenetrable to the eye they were like the turbid.

3. *Who can clear up the turbid, little by little, through stillness (as they did)?*
   Who can create stillness, little by little,
   through duration (as they did)?

4. *Whosoever guards this DAO*
   does not desire abundance.
   For only because he has no abundance
   therefore can he be modest,
   avoid what is new
   and attain completion.

अनुवाद

1. *पुराने समय में जो सामर्थ्यवान संत हुए,*
   वे अदृष्ट शक्ति-स्रोत के रहस्य को जान सके थे।
   वे गहन गंभीर थे, अत: उन्हें कोई जान न पाया।
   चूंकि उन्हें कोई जान न पाया,
   इसलिए, उनका ऊपरी व्यवहार ही मुश्किल से बताया जा सकता है।

2. हिचकते हुए, जैसे कोई शीत ऋतु में नदी पार करता हो,
सावधान, जैसे कोई चारों ओर लोगों से घिरा हुआ भयभीत हो,
संकोची, अतिथि की भांति,
घुलनशील, गल रही बर्फ की भांति,
साधारण, अनगढ़ वस्तु की तरह,
विस्तीर्ण हृदय, घाटी के समान,
नयनों के लिए अगोचर, मटमैले पानी की भांति।

3. मटमैलेपन को कौन दूर कर सका है?
थोड़ा-थोड़ा करके, स्थिर होकर? (जैसे उन्होंने किया)।
कौन स्थिर हुआ है?
थोड़ा-थोड़ा करके, समय के साथ? (जैसे वे हुए)।

4. जो इस ताओ की सुरक्षा करता है,
वह अधिक की कामना में नहीं पड़ता।
चूंकि वह अधिक के फेर में नहीं पड़ता,
अत: वह थोड़े में निर्वाह लेता है।
नये से बचता है,
और पूर्णता को उपलब्ध होता है।

भावार्थ—1. पहले के समर्थ संत अव्यक्त-शक्ति के मूल को जान सके थे। वे अत्यंत गंभीर थे, इसलिए उन्हें कोई जान नहीं पाया। इसलिए उनके ऊपरी व्यवहार को ही कठिनता से बताया जा सकता है।

2. सिकुड़ते हुए, जैसे कोई कठिन ठंडक में नदी पार करता हो। सतर्क, जैसे कोई इर्द-गिर्द के लोगों से घिरा हुआ भयभीत हो। सकुचाते हुए, अतिथि की भांति; घुलनशील, गल रही बर्फ की तरह; साधारण, अनगढ़ पदार्थ की तरह; विस्तीर्ण-हृदय, घाटी के समान; आंखों के लिए अदृश्य, मटमैले जल की भांति।

3. जल के मटमैलापन को कौन दूर कर सका है? स्थिर होकर धीरे-धीरे। कौन स्थिर हुआ है? धीरे-धीरे समय के साथ।

4. ताओ का पालन करनेवाला अधिक की इच्छा नहीं करता। वह थोड़े में निर्वाह लेता है। नये से बचता है और पूर्णता प्राप्त करता है।

भाष्य—ग्रंथकार कहते हैं, **पुराने समय में जो सामर्थ्यवान संत हुए, वे अदृष्ट-शक्ति के स्रोत को जान सके थे। वे गहन गंभीर थे; अतः उन्हें कोई जान न पाया। चूंकि उन्हें कोई जान न पाया, इसलिए उनका ऊपरी व्यवहार ही मुश्किल से बताया जा सकता है।**

तत्त्वदर्शी संत सब समय हुए हैं। वे अदृष्ट-शक्ति के मूल को समझते रहे। प्रकृति अदृश्य है। उसकी शक्ति का मूल है उसमें अनादि स्वत: निहित क्रिया और गुण-स्वभाव। उसी सूक्ष्म अदृश्य प्रकृति से स्थूल दृश्यमान कार्य-जगत निरंतर प्रकट होता है और पुन: अपने कारण में लीन होता है। दूसरी अदृश्य-शक्ति है चेतन पुरुष जो असंख्य हैं। उसका मूल ज्ञान है, जो 'स्व' के रूप में सबका ज्ञाता होकर विद्यमान है। ज्ञाता-चेतन ज्ञेय-जड़प्रकृति से अपने को छुड़ाकर 'स्व' में लीन हो जाये, यही उसका पुरुषार्थ है। ऐसे संत पहले हुए हैं, परंतु उनको बहुत कम लोग जान सके हैं। ग्रंथकार कहते हैं, **उन्हें कोई जान न पाया।** इसका लाक्षणिक अर्थ है कि उन्हें कम लोग जान पाये। आखिर इस ग्रंथ के लेखक तो उन्हें जाने ही। तभी वे लिखते हैं, **वे गहन गंभीर थे।** संसार में अधिक प्रसिद्ध होते हैं दिखावा करने वाले। अंतर्मुख संत, जो चमत्कारी धोखापट्टी से दूर हैं, उनको बहुत कम लोग समझ पाते हैं। उनका ऊपरी व्यवहार ही कठिनता से समझ मिलता है। उनके न देवी-देवता हैं, न भगवान हैं, न अवतार, न पैगंबर हैं, न आशीर्वाद द्वारा ऋद्धि-सिद्धि देने का झांसा है। वे आत्मज्ञानी हैं। वे आत्मशोधन करते हैं, आत्मलीनता का अभ्यास करते हैं और जगत की चमक-दमक से उदास रहते हैं।

वे संत कैसे होते हैं? **हिचकते हुए, जैसे कोई शीत ऋतु में नदी पार करता हो।** अत्यंत ठंडक हो और उसी समय नदी के जल में प्रवेशकर उसे पार करना हो, तो मनुष्य बहुत झिझक के साथ उसमें प्रवेश करता है। इसी तरह अंतर्मुख संत संसार के किसी नये व्यवहार से झिझक रखते हैं। नित्य के व्यवहार में भी सम्हाल-सम्हालकर कदम रखते हैं।

सावधान, जैसे कोई चारों ओर लोगों से घिरा हुआ भयभीत हो। संत लाओत्ज़े की बात बड़ी गंभीर है। बीसवीं सदी के लखनऊ क्षेत्र के लाओत्ज़े संत श्री विशाल साहेब थे। इन पंक्तियों के लेखक को उनके चरणों के निकट समय-समय से रहने का अवसर वर्षों तक मिला है। उनकी भी यही भाषा थी और यही रहनी थी। उन्होंने कहा था कि जो मुझसे मिलकर लौटता है, मैं आशा नहीं करता कि यह मनुष्य पुन: इसी भाव से मिलेगा। शांति चाहने वाले सभी साधकों का यह अनुभव होता है कि आस-पास के लोगों में राग-द्वेष होने का अवसर आता है। अतएव विवेकवान सबसे डरकर चलता है। वह किसी को जानबूझकर नहीं दुखाता और दूसरों के अनुकूल-प्रतिकूल बात-व्यवहार से स्वयं नहीं दुखता। सद्गुरु कबीर ने साखी ग्रंथ में कहा है—

साधू ऐसा चाहिए, दुखै दुखावै नाहिं।
पान-फूल छेड़ै नहीं, रहै बगीचा माहिं॥

साधु को चाहिए कि वह दूसरों के किसी भी प्रकार के व्यवहार से दुखी और उत्तेजित न हो और स्वयं किसी को जानबूझकर न दुखावे। वह समाज

और संसार रूपी बाग में रहे, परंतु किसी से छेड़खानी न करे।

संकोची अतिथि की भांति। ग्रंथकार कहते हैं कि वह संत अतिथि की तरह संकोच से रहता है। अतिथि उस संन्यासी को कहते हैं जो केवल एक रात किसी के घर ठहरता हो, या जो अचानक आया हो। अतिथि किसी के घर पहुंचा हो, तो वह घरवाले पर अपना अधिकार जमाने की चेष्टा नहीं करता। वह तो वहां सकुचाते हुए संक्षिप्त आवश्यक वस्तुओं से निर्वाह लेकर उन्हें धन्यवाद देता है। विवेकवान जिस परिवार या समाज में नित्य रहते हैं, वहां भी अतिथि की तरह ही रहते हैं। वे निकट-से-निकट रहनेवाले अनन्य सेवक पर भी अपना अधिकार नहीं जमाते।

घुलनशील, गल रही बर्फ की भांति। जैसे गलती हुई बर्फ हो, वैसे संत या साधक घुलनशील होता है। वह अपने अहंकार, मनोविकार, कामनाओं और दोषों को विवेक तथा साधना से निरंतर गलाता है, क्षीण करता है। सच्चे साधक का लक्षण यही है कि अपने मन, वाणी और इंद्रियों के विकारों को साधना से निरतंर क्षीण करता जाये। इस साधना में शिथिलता न लाये, अपितु निरंतर तीव्रता लाये। हमारे मनोविकार ही हमारे लिए नरक बनते हैं। हमारा विरोधी हमें नरक नहीं दे सकता, अपितु हमारे दोष हमारे नरक हैं। साधक इसे निरंतर नष्ट करते हुए इसी जीवन में कृतार्थ हो जाता है।

साधारण, अनगढ़ वस्तु की तरह। कोई लकड़ी, पत्थर आदि गढ़ा-संवारा न गया हो, तो वह बेढंगा लगता है। इसी तरह दिखावा-रहित अंतर्मुख संत होता है। वह रजोगुणी मनुष्यों की दृष्टि में अव्यावहारिक लगता है। इसलिए ऐसे संतों से बहुत लोग लाभ नहीं ले पाते। लोगों को तो चमक-दमक और तड़क-भड़क पसंद है।

विस्तीर्ण-हृदय, घाटी के समान। दो पर्वतों के बीच जो खाली एवं शून्य जगह होती है, उसे घाटी कहते हैं। संत का हृदय घाटी की तरह अहंकार-कामना-शून्य होता है, इसलिए महान होता है। किंतु यह महानता संसार के लोग नहीं समझ पाते। साधारण मनुष्य मन को अहंता-ममता से भरना उपलब्धि मानते हैं, किंतु संत मन को खाली कर देना, अहंकार-ममकार छोड़कर मन को शून्य बना देना अपनी उपलब्धि मानते हैं। वासनाओं से शून्य हृदयवाला ही तो जीवन्मुक्त है।

नयनों के लिए अगोचर, मटमैले पानी की भांति। मटमैले पानी में कोई अपना प्रतिबिंब देखना चाहे तो नहीं देख सकता। अंतर्मुख संत रजोगुणी मनुष्यों की दृष्टि में मटमैले पानी की तरह हैं जिनमें उसे अपनी आशा के प्रतिबिंब नहीं दिखते। रजोगुणी मनुष्य को उदासीन संत निरर्थक लगते हैं।

मटमैलेपन को कौन दूर कर सकता है? थोड़ा-थोड़ा करके स्थिर होकर (जैसा उन्होंने किया)। पानी मटमैला है, तो इस मटमैलेपन को वही दूर कर

सकता है जो धैर्य रखकर मिट्टी के अंश को नीचे तल में बैठ जाने दे। ऐसा ही पुराने संतों ने किया है। साधक अपने मन में नयी गंदगी न डाले और पहले की रही हुई गंदगी के प्रति उपेक्षा कर दे, तो धीरे-धीरे मन निर्मल हो जायेगा। साधना में बिना रुके तथा बिना लौटे जो निरंतर आगे बढ़ता रहता है, उसका मन शुद्ध होना पक्का है। रुकना है साधना शिथिल कर देना या छोड़ देना और लौटना है कुसंग का सेवन करने लगना। इन दोनों दोषों से बचकर निरंतर साधना में लगे रहने वाले का हृदय शुद्ध होकर उसे अपना अंतिम लक्ष्य परम शांति पाना पक्का है।

कौन स्थिर हुआ है? थोड़ा-थोड़ा करके समय के साथ (जैसे वे हुए)। शांति वही पाता है जो थोड़ा-थोड़ा करके अपने मन की लालसाओं-कामनाओं को त्यागते हुए स्वरूपस्थिति का अभ्यास करता है। पहले के लोग भी इसी प्रकार जीवन के लक्ष्य को पाये हैं। संत कबीर साहेब कहते हैं—

धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय॥

जो इस 'ताओ' की सुरक्षा करता है, वह अधिक की कामना में नहीं पड़ता। चूंकि वह अधिक के फेर में नहीं पड़ता, अतः वह थोड़े में निर्वाह लेता है। ताओ जड़-जगत में व्याप्त है, समस्त सृष्टि में व्याप्त है और हमारे मन और जीवन में व्याप्त है। हर वस्तु का अपना धर्म-स्वभाव-नियम ताओ है। जो अपने मन और जीवन के ताओ को, धर्म को, नियम को समझता है और उसे सुरक्षित रखता है, अर्थात उसका पूर्ण पालन करता है, वह अधिक की कामना नहीं करता। क्योंकि वह समझता है कि अधिक की कामना करना ताओ के विरुद्ध है, जीवन की शांति के नियम के विरुद्ध है। अधिक की कामना करने वाला शांति नहीं पा सकता। इसलिए ताओ का अनुगामी, जीवन की शांति के नियम को समझने वाला मनुष्य अपने जीवन का निर्वाह सादी और स्वल्प वस्तुओं से लेता है। संत कबीर कहते हैं—

रूखा सूखा खाय के, ठंडा पानी पीव।
देखि परायी चूपड़ी, मत ललचावे जीव॥

नये से बचता है और पूर्णता को प्राप्त होता है। अंतर्मुख संत नये-नये प्राणी-पदार्थों, नयी प्रवृत्तियों से अपने को बचाकर निवृत्ति-परायण रहता है। अनेक महात्मा नये-नये मठों की स्थापना करते हुए अपने मूल-स्थान की शाखाएं बढ़ाते जाते हैं; और उन्हीं में उलझकर आत्मशांति खो देते हैं। प्रतिभावान अच्छे संतों को लोग मठ-मंदिर, जमीन, धन अर्पित करते हैं, और वे इन्हें स्वीकारते-स्वीकारते दुनिया में उलझ जाते हैं। उनकी व्यवस्था में तो उलझते ही हैं, उनके मुकदमों की फाइलें लंबी होती जाती हैं। फिर अंतर्मुखता

का काम छूटकर वे घोर बहिर्मुखी हो जाते हैं। जिस धर्म-प्रचार के लिए उन्होंने यह सब किया, वह लुप्त होकर वे दुनियादारी से भी गये-बीते हो जाते हैं।

लोक-भाषा में कहा जाने वाला ऋद्धि-सिद्धि में फंसकर परमात्मा को भूल जाने का अर्थ यही है। लौकिक माया ऋद्धि-सिद्धि है और आत्मा परमात्मा है। अनादि काल से अनात्म जड़ पदार्थों में मोह करने की आदत है। साधक यदि पुन: दुनिया की झूठी चमक-दमक में फंस गया तो उसे स्थिर शांति एवं स्वरूपस्थिति-धाम नहीं मिलेगा। माया के पसारा में मोह करना, उसमें हर्ष मानना घोर अविवेक है।

इसलिए ताओ को समझने वाले, जीवन रहस्य तथा नियम को समझने वाले सिमिटकर रहते हैं। वे नये-नये के प्रलोभन में नहीं पड़ते। इसलिए वे आत्मसंतुष्ट होकर कृतकृत्य हो जाते हैं।

---

16. अहंता-ममता-शून्य आत्मविजयी सारे संकटों से पार होता है

1. *Create emptiness up to the highest!*
   Guard stillness up to the most complete.
   Then all things may rise together.
   I see how they return.
   Things in all their multitude:
   each one returns to its root.
   Return to the root means stillness.
   Stillness means return to fate.
   Return to fate means eternity.
   Cognition of eternity means clarity.

2. *If one does not recognise the eternal*
   one falls into confusion and sin.
   If one recognises the eternal
   one becomes forbearing.
   Forbearance leads to justice.
   Justice leads to mastery.
   Mastery leads to Heaven.
   Heaven leads to DAO.
   DAO leads to duration.
   All one's life long one is not in danger.

अनुवाद

1. *पूर्ण रूपेण खाली हो जाओ!*
   सब प्रकार से शांति को अक्षुण्ण रखो।
   तब सारी वस्तुएं एक ही भांति विकसित होते हुए दिखेंगी।
   मैं देखता हूं उन्हें वापस लौटते हुए।

वस्तुएं अपने सभी रूपों में,
प्रत्येक अपने उद्‌गम की ओर लौटती हैं।
उद्‌गम की ओर लौटना विश्रांति पाना है।
विश्रांति पाना अर्थात अपनी नियति को उपलब्ध होना है।
नियति को उपलब्ध होना ही शाश्वत होना है।
शाश्वत होने की पहचान ही यथार्थ समझ है।
यदि शाश्वत से अपरिचित रहे,
तो दिग्भ्रमित होगे और पाप में गिरोगे।

2. जो शाश्वत को जान लेता है,
वह सहिष्णु हो जाता है।
सहिष्णु होना निष्पक्षता का प्रारंभ है।
निष्पक्षता स्वामित्व का प्रारंभ है।
स्वामित्व स्वर्ग की ओर ले जाता है।
स्वर्ग ताओ की ओर ले जाता है।
ताओ स्थायित्व की ओर ले जाता है।
फिर आप जीवन भर संकटमुक्त रहेंगे।

भावार्थ—1. अहंता-ममता खो दो और हर तरह से शांति को स्थिर रखो। तब उत्पन्न होनेवाला सारा कार्य-पदार्थ एक ही प्रकार विकसित होते हुए दिखेगा। इसके साथ उनका वापस अपने कारण तत्त्वों में लौटना भी दिखेगा। संसार के सारे निर्मित पदार्थ अंत में अपने कारणतत्त्वों में लीन होते हैं। अपने मूल में लौट जाना विश्राम पाना है। यही प्रकृति के विधान में लौटना है। प्रकृति के विधान में लौटना ही शाश्वत होना है। मनुष्य को अपनी शाश्वत सत्ता की परख हो जाना सच्ची समझ है। यदि मनुष्य अपने शाश्वत स्वरूप से अपरिचित रहा, तो वह कल्याण की दिशा से भटककर पाप में गिरेगा।

2. जो अविनाशी तत्त्व को जान लेता है, वह सहनशील हो जाता है। सहनशील हो जाना निष्पक्षता की शुरुआत है। निष्पक्षता अपने स्वामित्व में प्रतिष्ठित होने की शुरुआत है। स्वामित्व स्वर्ग की ओर ले जाता है। स्वर्ग ताओ की ओर ले जाता है। ताओ स्थिरता की ओर ले जाता है। फिर मनुष्य जीवनपर्यंत दुखों से मुक्त रहेगा।

भाष्य—पूर्णरूपेण खाली हो जाओ। सब प्रकार से शांति को अक्षुण्ण रखो। संत लाओत्ज़े का यह महावाक्य **'पूर्णरूपेण खाली हो जाओ।'** अध्यात्मस्थिति की मार्मिकता का स्पर्श कराता है। मन से सारे संसार का संबंध होता है; इसलिए मन को ही खाली कर देने पर संसार निवृत्त हो जाता है। मन

में राग-द्वेष का कबाड़ भरा है, उसे निकाल फेंको, और आगे उसमें राग-द्वेष न भरो। मन की सारी अहंता-ममता एवं मान्यताओं को निकालकर उसे खाली कर दो। समय-समय से संकल्प-शून्य हो जाओ, जो मन का एकदम खालीपन है। मन में कुछ न भरो तो वह खाली ही रहेगा।

ध्यान के समय मन का संकल्प-शून्य हो जाना उसका खाली होना है और व्यवहार के समय अहंता-ममता एवं विकारों का न होना मन का खाली होना है। दूसरा वाक्य है, **सब प्रकार से शांति को अक्षुण्ण रखो।** याद रखो, मन को खाली किये बिना सब प्रकार से शांति स्थिर नहीं रह सकती। संसार का व्यवहार ऐसा है कि यदि मन में अहंता-ममता भरे रहोगे, तो हर क्षण दुखते रहोगे।

हम केवल सकारात्मक पक्ष को देखते हैं, नकारात्मक को नहीं देख पाते। यह पक्का समझ लो कि संसार द्वंद्वात्मक है। यहां सकारात्मक पक्ष के साथ नकारात्मक पक्ष लगा रहता है। जहां प्रकाश का अंत है वहां अंधकार लगा है। जहां जल है वहां कीचड़ है। जो प्रेम करेगा वह बिना घृणा किये नहीं रह पायेगा। स्तुति करने वाला निंदा भी करेगा। सत्कार करनेवाला तिरस्कार भी करेगा। यह सब निकट-से-निकट के लोग ही करते हैं। ऐसा दुर्लभ मनुष्य है जो प्रेम के साथ घृणा, स्तुति के साथ निंदा और सत्कार के साथ तिरस्कार न करे। निंदा करने वालों को हम बुरा न मानें। बुरे हम हैं जो हम इस सत्यता के बोध से दूर हैं कि सकारात्मक पक्ष के साथ नकारात्मक पक्ष होता है।

ऐसे सकारात्मक तथा नकारात्मक पक्षों से संबलित द्वंद्वात्मक संसार में रहकर हमारी शांति सब तरफ से तभी अक्षुण्ण रह सकती है जब हमारा मन खाली हो, शिशु की तरह हो। हम देह के अभिमानी हैं। उसके वर्ण, आश्रम, जाति, गुण, कर्म, वैभव, पद, अधिकारादि जो विकारी, तुच्छ, अनात्म, अनित्य और सदा के लिए शून्य हो जाने वाले हैं, उनमें चिपके हैं। ये सारी चिपकाहट सर्वथा छूटकर जब मन खाली हो जाता है, निरभ्र आकाश की तरह निर्मल हो जाता है, तब हमारी शांति सब तरफ से स्थिर रहती है। यही जीवन की सार्थकता है।

तब सारी वस्तुएं एक ही भांति विकसित होते हुए दिखेंगी। मैं देखता हूं उन्हें वापस लौटते हुए। वस्तुएं अपने सभी रूपों में प्रत्येक अपने उद्‌गम की ओर लौटती हैं।

ग्रंथकार कहते हैं कि जब मन खाली होता है, अहंता-ममता-शून्य होता है, और परिणाम में अगाध शांति होती है, तब ऐसा पारदर्शी मन वाला मनुष्य यह देखता है कि जिनमें हमारा मोह होता है वे सारी निर्मित वस्तुएं एक भांति उत्पन्न होती हैं, बढ़ती हैं, जरजर होती हैं और लौटकर अपनी मूल प्रकृति में लीन हो जाती हैं। नचिकेता के वचनों में ''सस्यमिव मर्त्य: पच्यते सस्यमिवाजायते

पुन:।'' अर्थात मनुष्य फसल की तरह पैदा होकर पककर गिर जाता है और पुन: पैदा होता है। जब सारा दृश्यमान कार्यजगत क्षण-क्षण बिखरकर अपने कारण प्रकृति में लीन होता रहता है, तब किसमें मोह और किसका शोक!

उद्‌गम की ओर लौटना विश्रांति पाना है, विश्रांति पाना अपनी नियति अर्थात आत्मसंयम को पाना है। नियति को पाना शाश्वत होना है। शाश्वत होने की पहचान यथार्थ समझ है। भौतिक कार्य-पदार्थों का उद्‌गम मूल-प्रकृति है, अतएव संसार के पदार्थ प्रकृति में लीन होते हैं। परंतु ज्ञान का उद्‌गम आत्मा है। अतएव जब हमारा ज्ञान आत्मा की तरफ लौटता है तब वह विश्राम पाता है। विश्राम पाने का तात्पर्य ही है अपनी नियति-विधान-आत्मसंयम को पा जाना। जब मनुष्य आत्मसंयम को पा गया, तब वह शाश्वत हो जाता है, अविचल-अविनाशी स्वरूप में स्थित हो जाता है।

शाश्वत होने की पहचान है यथार्थ समझ। यथार्थ समझ है, मिटने और छूटने वाली वस्तुओं में मोह न करना। छूटनेवाली वस्तुओं में मोह करके सारा संसार दुखी है। सही समझ का फल है दुखों से सर्वथा रहित हो जाना और वह तभी होगा जब देह से लेकर समस्त दृश्यमान संसार का मोह सर्वथा छूट जाये।

यदि शाश्वत से अपरिचित रहे, तो दिग्भ्रमित होगे और पाप में गिरोगे। प्रकृति का शाश्वत विधान एवं अपरिवर्तित नियम है, बनना-बिगड़ना। यदि इस तथ्य को ध्यान में नहीं रखा जायेगा तो दृश्यमान पदार्थों में मोह करके सदैव शोक से घिरे रहना होगा। यही है दिग्भ्रमित होना, शांति की दिशा भूलकर अशांति-पथ में चले जाना। फिर संसार के प्रलोभनों में डूबा आदमी पाप करेगा। अतएव उसका दुख गहराता जायेगा।

आत्मा शाश्वत है। यदि उसका परिचय नहीं होगा, तो अंतर्मुखता का रास्ता नहीं मिलेगा। फलत: बहिर्मुख होकर भटकना होगा। बहिर्मुखता के प्रवाह में पड़कर पाप में गिरना ही होगा।

जो शाश्वत को जान लेता है, वह सहिष्णु हो जाता है। सहिष्णु होना निष्पक्षता का प्रारंभ है। जो प्रकृति और आत्मा के शाश्वत स्वरूप को तत्त्वत: समझ लेता है और उसी के अनुसार चलता है, वह सहनशील हो जाता है। वह जगत के शाश्वत विधान को जानता है कि यह द्वंद्वात्मक है, दो विरोधी तत्त्वों का जोड़ा है—जड़-चेतन, सुख-दुख, अनुकूलता-प्रतिकूलता, हानि-लाभ, राग-द्वेष, जन्म-मरण, स्तुति-निंदा, सत्कार-तिरस्कार, शत्रु-मित्र आदि। ऐसे संसार में अहंकारी बनकर रहनेवाला सदैव दुखी रहेगा। जो निर्मान होकर रहेगा वह सहनशील होगा। सब कुछ सहन कर लेना ही साधना है।

आत्मा शाश्वत है, अमर है, असंग है। उसमें संसार का कोई प्रपंच नहीं है। सारा प्रपंच देह-संबंध से है, जो रहने वाला नहीं है। न देह रहेगी और न

दृश्यमान संसार का संबंध रहेगा। फिर क्षणिक संबंध के द्वंद्वों में क्यों उलझना! अतएव प्रकृति-प्रपंच की शाश्वतता है निर्माण-विनाश और आत्मा की शाश्वतता है उसका अकेलापन। इस शाश्वत तत्त्व को ठीक से समझ लेनेवाला मनुष्य सहनशील हो जाता है; और सहनशील होना उसकी निष्पक्षता का प्रारंभ माना जायेगा। अनुकूल-प्रतिकूल के द्वंद्व से निष्पक्ष।

निष्पक्षता स्वामित्व का प्रारंभ है। निष्पक्ष व्यक्ति अपने आप का स्वामी हो जाता है। जो सहनशील और निष्पक्ष है वह अपना स्वामी है, अपने आप का सम्राट है। वही व्यक्ति किसी समूह का भी स्वामी होने योग्य होता है, जो वस्तुत: उस समूह का सेवक है। जो अपने आत्मा का स्वामी होता है, वह किसी व्यक्ति या समूह की सेवा सेवक बनकर करता है। जो अपना स्वामी हो गया उसे किसी दूसरे के ऊपर स्वामी बनने की भूख नहीं रह जाती। वह सेवक बनकर समाज की सेवा करता है। जो अपनी घृणित महत्त्वाकांक्षाओं का गुलाम है, वही किसी व्यक्ति या समूह का स्वामी बनने की दुराशा रखता है। सहनशील और निष्पक्ष व्यक्ति अपने आप का स्वामी होता है।

स्वामित्व स्वर्ग की ओर ले जाता है। जो संसार से निष्काम है, वही सहनशील और निष्पक्ष है। वही अपने आत्मा का स्वामी है। यह आत्म-स्वामित्व स्वर्ग की ओर ले जाता है। दुनिया भर के पौराणिकों के स्वर्ग घृणित विषय-वासनाओं तथा विषय-भोगों के बढ़े-चढ़े काल्पनिक रूप हैं। किंतु संसार के सभी अध्यात्मवादियों का स्वर्ग मन की पूरी निर्मलता तथा शाश्वत शांति है। अपने आत्मा का स्वामी निर्मल मन का होता है। वह शाश्वत शांति में विहार करता है।

स्वर्ग ताओ की ओर ले जाता है। आध्यात्मिक ताओ आत्मा का स्वाभाविक रुझान है—अंतर्मुख हो जाना, असंग एवं केवल हो जाना, अद्वैत हो जाना, आत्मतृप्त एवं कृतकृत्य हो जाना। **ताओ स्थायित्व की ओर ले जाता है।** कृतकृत्यता ही स्थायित्व है। पूर्ण आत्मसंतोष ही स्थायित्व है।

फिर आप जीवनभर संकट-मुक्त रहेंगे। जिसने जगत की क्षणभंगुरता को समझा, आत्मा की अमरता को समझा; इसके फल में जो सहनशील हो गया, निष्पक्ष हो गया, आत्म-स्वामी हो गया, निर्मलता का स्वर्ग पा गया, अंतर्मुख हो गया, स्थिर संतोष पा गया, उसके जीवन में दुख-संकट आने का प्रसंग ही नहीं है।

वह तो पहले से ही जानता है कि संसार द्वंद्वात्मक है। यहां केवल अनुकूलता, सुख, प्रेम, सत्कार, स्तुति आदि पाने का व्यामोह नहीं करना चाहिए; क्योंकि इनके विपक्ष वाले द्वंद्व प्रतिकूलता, दुख, घृणा, तिरस्कार, निंदादि मिलने ही हैं। और इन बातों के दृढ़ बोध से जो पृथ्वी के समान धैर्यवान तथा सहिष्णु

हो गया, उस पर कौन संकट आयेगा? वह तो सभी द्वंद्वों का पहले से स्वागत करने के लिए तैयार बैठा है। वस्तुत: वह इतना सहिष्णु और आत्मविजयी हो जाता है कि उसको कहीं संकट दिखता ही नहीं। वह समझता है कि यह तो होना ही है। इसमें संकट क्या है। आत्मविजयी सारे संकटों से पार होता है।

मन की चंचलता एवं मानसिक उद्वेग सबसे बड़ा दुख है। यह दुख हमारी अपनी कायरता का फल है। हमारी कायरता है इस क्षणभंगुर, अनात्म और दुखपूर्ण संसार से सुख पाने की इच्छा। सभी मनुष्य अनेक इच्छाओं के कारण स्वयं दुखी हैं। उनसे हमें सुख क्या मिलेगा? सुख बाहर से मिलने की वस्तु है भी नहीं। सच्चा सुख मन की गहरी शांति है, और यह संपूर्ण अहंकार और कामना छोड़ देने पर आती है। अतएव जिसने अहंकार-कामना का पूर्ण त्याग कर दिया, वह स्वयं सुख-सागर है।